

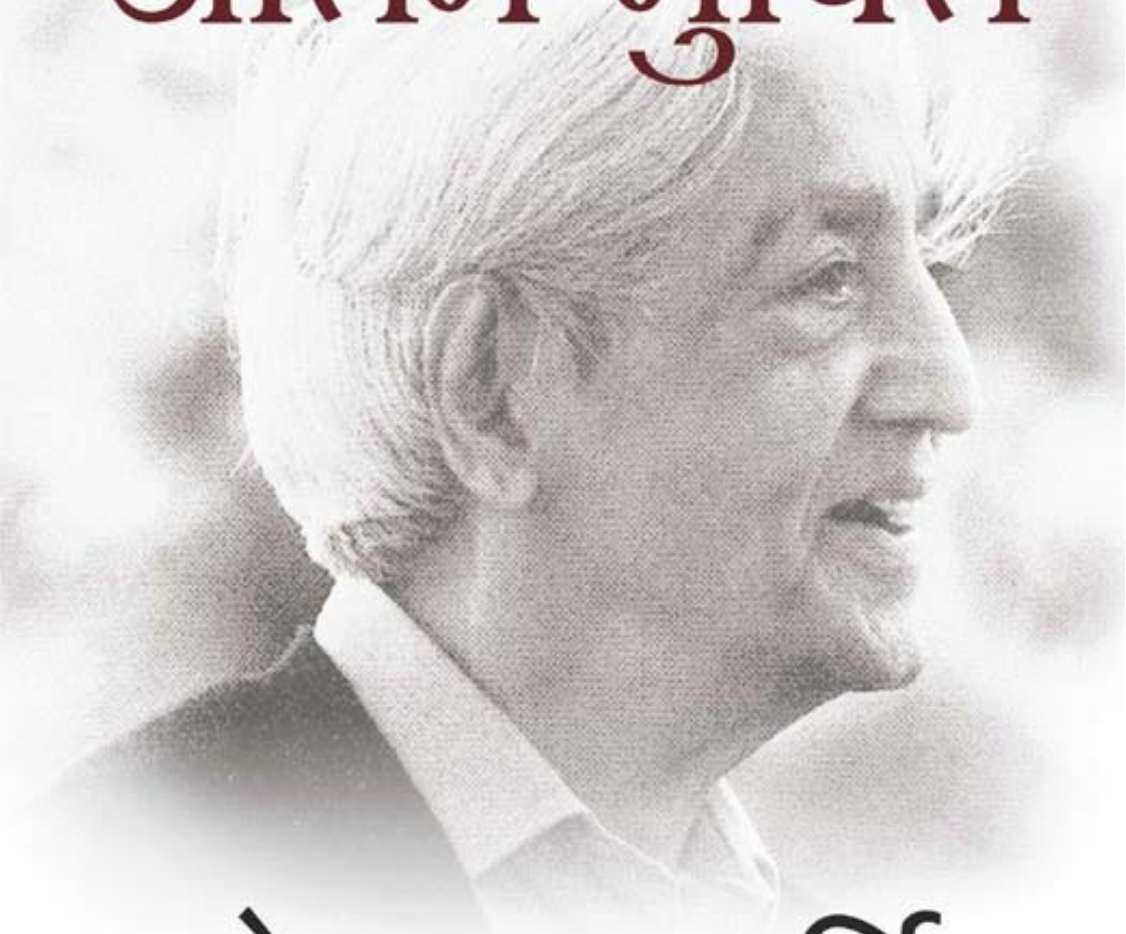
प्रथम और

अंतिम मुक्ति

जे. कृष्णमूर्ति

प्रथम और

अंतिम मुक्ति



जे.कृष्णामूर्ति

# प्रथम और अंतिम मुक्ति

# प्रथम और अंतिम मुक्ति

जे. कृष्णमूर्ति



अनुवादक  
डॉ. दयाल शरण वर्मा

मूल्य : एक सौ पचहत्तर रुपये (175.00)

संशोधित संस्करण : 2008

ISBN : 978-81-7028-752-0

Pratham Aur Antim Mukti  
Hindi Translation of 'The First and Last Freedom' by J.  
Krishnamurti

Translation : Dr. Dayal Sharan Verma  
Edited by Translation & Publication Cell, J. Krishnamurti Prajna  
Parishad, Varanasi

For the Original English Text  
© 1954 Krishnamurti Foundation of America,  
P.O. Box No. 1560 Ojai, California 93024 U.S.A.  
E-mail: [kfa@kfa.org](mailto:kfa@kfa.org)

For the Hindi Translation  
© Krishnamurti Foundation India  
Vasant Vihar, 124-126 Greenways Road, Chennai-600028  
For the teachings of J. Krishnamurti in Hindi log on to :  
[www.j-krishnamurti.org/hindi](http://www.j-krishnamurti.org/hindi)

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110 006

website : [www.rajpalpublishing.com](http://www.rajpalpublishing.com)  
E-mail : [mail@rajpalpublishing.com](mailto:mail@rajpalpublishing.com)

# क्रम

---

## विषय-प्रवेश

हम क्या खोज रहे हैं?

व्यक्ति और समाज

स्वबोध

कर्म और अवधारणा

विश्वास

प्रयास

अंतर्विरोध

स्व क्या है?

भय का स्वरूप

सरलता

सजगता

इच्छा

संबंध और अलगाव

विचारक और विचार

क्या सोचने से हमारी समस्याएं हल हो सकती हैं?

मन का कार्य

स्वयं से छलावा

आत्म-केंद्रित क्रिया

समय और आमूल परिवर्तन

ऊर्जा एवं प्रस्फुटन

## **प्रश्न एवं उत्तर**

वर्तमान संकट

राष्ट्रवाद

आध्यात्मिक गुरु क्यों?

ज्ञान

[अनुशासन](#)  
[अकेलापन](#)  
[दुःख](#)  
[सजगता](#)  
[संबंध](#)  
[युद्ध](#)  
[भय](#)  
[ऊब और रुचि](#)  
[घृणा](#)  
[गपशप](#)  
[आलोचना](#)  
[ईश्वर में विश्वास](#)  
[स्मृति](#)  
['जो है' के प्रति आत्मसमर्पण](#)  
[प्रार्थना और ध्यान](#)  
[चेतन एवं अचेतन मन](#)  
[काम-वृत्ति](#)  
[प्रेम](#)  
[मृत्यु](#)  
[समय](#)  
[धारणामुक्त कर्म](#)  
[पुरातन और नूतन](#)  
[नाम देने की प्रवृत्ति](#)  
[ज्ञात और अज्ञात](#)  
[सच और झूठ](#)  
[ईश्वर](#)  
[तत्क्षण साक्षात्कार](#)  
[सादगी](#)  
[उथलापन](#)  
[क्षुद्रता](#)  
[मन की निश्चलता](#)  
[जीवन का अर्थ](#)  
[मन की उलझन](#)  
[आमूल परिवर्तन](#)

## प्राक्कथन

---

मनुष्य एक ऐसा उभयधर्मी प्राणी है जो एक साथ दो विश्वों में रहता है एक विश्व तो वह है जो प्रकृति से मिला हुआ है, जो पदार्थ, जीवन और चेतना का विश्व है; और दूसरा मनुष्य द्वारा रचित प्रतीकों का विश्व है। अपनी विचार प्रक्रिया में हम भाषात्मक, गणितीय, चित्रात्मक, संगीतात्मक, कर्मकांड संबंधी एवं अन्य विभिन्न प्रकार की प्रतीक-प्रणालियों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार की प्रतीक-प्रणालियों के अभाव में न केवल कला, विज्ञान, विधि अथवा दर्शन ही असंभव होते, बल्कि हमारी सभ्यता का आरंभ ही नहीं हो पाता। दूसरे शब्दों में कहें तो हम पशु मात्र ही रह जाते।

तो प्रतीक अपरिहार्य हैं। परंतु जैसा कि हमारे अपने युग तथा दूसरे युगों के इतिहास से भली-भांति स्पष्ट होता है, ये प्रतीक घातक भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक ओर विज्ञान तथा दूसरी ओर राजनीति एवं धर्म के क्षेत्र पर विचार कीजिए। एक वर्ग के प्रतीकों की शब्दावली में विचार करके तथा उनके अनुसार चल कर हम अब किसी सीमा तक प्रकृति की मूलभूत शक्तियों को समझ पाए हैं तथा उन पर नियंत्रण कर पाए हैं। दूसरे वर्ग के प्रतीकों की शब्दावली में विचार करके तथा उनके अनुसार क्रिया करके हम इन्हीं शक्तियों का प्रयोग नरसंहार एवं सामूहिक आत्महत्या के लिए करते हैं। पहले वर्ग में व्याख्यात्मक प्रतीकों का सोच-विचार कर चयन तथा भली-भांति विश्लेषण किया गया एवं भौतिक अस्तित्व के उद्घाटित होने वाले तथ्यों के साथ उनका उत्तरोत्तर सामंजस्य किया गया। दूसरे वर्ग के प्रतीकों का चयन दोषपूर्ण रहा, उनका कभी-भी ठीक से विश्लेषण नहीं हुआ और मानव अस्तित्व के उद्घाटित होने वाले तथ्यों के साथ सामंजस्य करने के लिए उनको कभी-भी पुनः प्रतिपादित नहीं किया गया। यही नहीं, भ्रम पैदा करने वाले इन प्रतीकों को सर्वत्र एक ऐसा सम्मान दिया गया जो सर्वथा अनुचित था, मानो किसी रहस्यमय ढंग से वे उन वास्तविकताओं से भी अधिक वास्तविक हों जिनकी ओर उन्होंने संकेत किया था। धर्म एवं राजनीति के संदर्भों में, वस्तुओं एवं घटनाओं का यथोचित निर्देश शब्द नहीं कर पाए, बल्कि हुआ यह कि वस्तुओं एवं घटनाओं को ही शब्दों के विशेष दृष्टान्तों के रूप में माना जाने लगा।

अब तक प्रतीकों का यथार्थवादी ढंग से प्रयोग केवल उन क्षेत्रों में हुआ है, जिन्हें हम सर्वाधिक महत्त्व का नहीं समझते। ऐसी सभी परिस्थितियों में, जिनका हमारी अपेक्षाकृत गहन प्रेरणाओं से संबंध है, हमने प्रतीकों के प्रयोग पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर दिया है; न केवल यह प्रयोग अवास्तविक ढंग से हुआ है, बल्कि हमने इसमें प्रतीक-पूजकों की सी श्रद्धा बना ली है और पागलपन की हद तक चले गए हैं। परिणाम यह हुआ कि जिन कामों को पशु थोड़े ही समय

के लिए, और वह भी क्रोध, वासना अथवा भय की चरम अवस्था में ही किया करते हैं, हम उन्हें लंबे समय तक एवं बड़ी निष्ठुरता के साथ करने में समर्थ हो गए हैं। चूंकि मनुष्य प्रतीकों का प्रयोग करते हैं और उनकी उपासना करते हैं, वे आदर्शवादी बन सकते हैं; और आदर्शवादी हो जाने के कारण वे पशु में बीच-बीच में दिखने वाली लालसाओं को किसी रोड़ज़ अथवा जे. पी. मॉर्गन के भव्य साम्राज्यवादों में बदल सकते हैं; दूसरों को भयाभिभूत करने की पशु में बीच-बीच में दिखने वाली प्रवृत्ति को स्टालिनवाद में अथवा स्पेन के ईसाई जांच-न्यायालय, इंकवीज़ीशन में रूपांतरित कर सकते हैं; अपने इलाके के प्रति पशु में प्रायः दिखने वाली आसक्ति को राष्ट्रवाद के सुनियोजित उन्माद में बदल सकते हैं। यह सौभाग्य ही है कि हम पशु में कभी-कभी होने वाली दयालुता को भी किसी एलिजाबेथ फ्राई अथवा विंसेंट डी पाल की जीवन-पर्यंत दीनवत्सलता में बदल सकते हैं; और इसी प्रकार अपने जीवन-संगी एवं अपनी संतानों के प्रति पशु में होने वाली निष्ठा को एक ऐसे तर्क-बुद्धि युक्त, स्थायी सहयोग में रूपांतरित कर सकते हैं जिसने अब-तब एक अलग तरह के विनाशकारी आदर्शवाद के परिणामों से विश्व की रक्षा करने में अपने को समर्थ सिद्ध किया है। क्या इससे विश्व की सदा इस प्रकार रक्षा हो पाएगी? इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता। हम बस इतना ही कह सकते हैं कि राष्ट्रवादी आदर्शवादियों के पास अणु बम हो जाने से सहयोग एवं उदारता के आदर्श को मानने वालों का पलड़ा एकदम से हल्का पड़ गया है।

पाकविद्या की सर्वोत्तम पुस्तक भी खराब-से-खराब भोजन की जगह नहीं ले सकती, यह एक सर्वविदित तथ्य है। फिर भी युगों-युगों से अत्यंत गंभीर दार्शनिक, बड़े-से-बड़े विद्वान एवं धर्मशास्त्री अपनी शुद्ध शाब्दिक रचनाओं को तथ्यों से एकरूप समझने की निरंतर भूल करते रहे हैं; यही नहीं इससे भी भयंकर भूल उनकी यह कल्पना रही है कि प्रतीक किसी-न-किसी प्रकार उससे अधिक यथार्थ है जिसकी ओर वह संकेत करता है। उनकी इस शब्दोपासना की आलोचना भी हुई है। सेंट पॉल ने कहा है, “केवल आत्मा ही प्राण देती है; शब्द तो प्राण को हरने वाला है।” ऐकहार्ट का प्रश्न है, “और क्यों ईश्वर का प्रलाप करते हैं? आप जो कुछ ईश्वर के विषय में कहेंगे वह असत्य होगा।” विश्व के दूसरे सिरे पर, महायान सूत्रों के एक रचयिता का प्रतिपादन है, “यह देखकर कि सत्य का आपको अपने भीतर ही साक्षात्कार करना होता है, बुद्ध ने कभी-भी सत्य का उपदेश नहीं दिया।” ऐसे कथन बेहद विध्वंसक माने गए और प्रतिष्ठित वर्ग ने उनकी उपेक्षा की। प्रतीकों एवं आदर्श-चिह्नों को अतिशय श्रद्धा से देखा जाना तथा उन्हें आवश्यकता से अधिक गौरव दिया जाना बना रहा और उसे रोका न गया। धर्मों का पतन हो गया; परंतु विश्वासों को प्रतिपादित करने का तथा रूढ़ प्रतिपादनों में विश्वासों को लादने का वह पुराना अभ्यास बना ही रहा, यहां तक कि अनीश्वरवादियों में भी।

इधर के वर्षों में तर्कशास्त्रियों तथा शब्दार्थविदों ने उन प्रतीकों का बड़ा गंभीर विश्लेषण किया है जिनकी शब्दावली में मनुष्य विचार करता है। भाषाशास्त्र एक विज्ञान बन गया है; यही नहीं आज वह विषय भी पढ़ा जा सकता है जिसे स्वर्गीय बेंजामिन वोर्फ ने अधिभाषाविज्ञान की संज्ञा दी है। यह सब है तो बहुत अच्छा, लेकिन यह पर्याप्त नहीं है। तर्कशास्त्र ही या शब्दार्थविज्ञान, भाषाशास्त्र ही या अधिभाषाविज्ञान—ये विशुद्ध बौद्धिक शास्त्र हैं। सही अथवा गलत, सार्थक अथवा निरर्थक, ये उन अनेक प्रणालियों का विश्लेषण करते हैं जिनके अंतर्गत वस्तुओं, प्रक्रियाओं एवं घटनाओं से शब्दों का संबंध बिठाया जा सकता है। परंतु जहां तक एक

ओर मनुष्य की मनोवैज्ञानिक समग्रता का तथा दूसरी ओर उसके दो विश्वों का अर्थात् प्रदत्तों एवं प्रतीकों का संबंध है, जो कि कहीं अधिक बुनियादी सवाल हैं, वे तमाम शास्त्र हमारे किसी काम के नहीं।

विश्व के प्रत्येक भाग में एवं इतिहास के प्रत्येक युग में व्यक्तिगत रूप से कई पुरुषों तथा स्त्रियों ने बार-बार इस समस्या का समाधान किया है। यहां तक कि इन व्यक्तियों ने जब कभी कुछ कहा अथवा लिखा, उन्होंने किसी विचार-प्रणाली की रचना नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि प्रत्येक विचार-प्रणाली इसके लिए जीता-जागता प्रलोभन है कि प्रतीकों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाये, कि तथ्यों-विषयों के स्थान पर उन शब्दों को अधिक महत्त्व दिया जाये जो उनके लिए तय माने जाते हैं। इन व्यक्तियों का यह मकसद कभी-भी न था कि वे कोई पूर्वनिर्धारित व्याख्या या रामबाण औषधि प्रस्तुत करें; वे लोगों को अपनी व्याधियों का स्वयं निदान और उपचार करने के लिए प्रेरित करना चाहते थे; वे मनुष्य को वहां तक ले जाना चाहते थे जहां मनुष्य की समस्याएं तथा उनके समाधान अनुभव के आलोक में उजागर हों।

कृष्णमूर्ति की रचनाओं एवं ध्वन्यंकित वार्ताओं के इस संग्रह में पाठक को मनुष्य की मूलभूत समस्या की एक स्पष्ट समकालीन अभिव्यक्ति मिलेगी, साथ ही उस समस्या का समाधान करने के लिए उसे आमंत्रण मिलेगा, और वह समाधान केवल एक ही है : व्यक्ति अपने लिए स्वयं ही समस्या का समाधान कर सकता है। सामूहिक समाधान जिनसे अनेक व्यक्ति अपनी आस्था जोड़ लेते हैं, कभी भी पर्याप्त नहीं होते। "उस क्लेश एवं भ्रांति को समझने के लिए हमें सबसे पहले अपने ही भीतर स्पष्टता को खोजना होगा और वह स्पष्टता सम्यक् चिंतन से आती है। इस स्पष्टता को आयोजित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका किसी दूसरे से विनिमय नहीं हो सकता। संगठित सामूहिक विचार तो घिसा-पिटा होता है। स्पष्टता शाब्दिक कथनों से नहीं आती, वह गहरी आत्म-सजगता और सम्यक् चिंतन का परिणाम होती है। सम्यक् चिंतन बुद्धि या उसके पोषण का परिणाम नहीं है और न ही यह किसी आदर्श के साथ तालमेल है, वह आदर्श चाहे जितना महान एवं मूल्यवान क्यों न हो। सम्यक् चिंतन स्व की समझ से आता है। बिना खुद को समझे आपके पास विचार का कोई आधार नहीं है; स्वबोध के अभाव में आप जो सोचेंगे वह सत्य नहीं होगा।"

यही आधारभूत विषय-वस्तु है जिसका परिच्छेद-दर-परिच्छेद, परत-दर-परत कृष्णमूर्ति ने खुलासा किया है। "आशा मनुष्यों से है, समाज से, व्यवस्था-तंत्रों से, संगठित धार्मिक प्रणालियों से नहीं, बल्कि आपसे और मुझसे है।" संगठित धर्म और उनके बिचौलिये, उनके धर्मशास्त्र, उनके सिद्धांत, उनकी परंपरा और कर्मकांड इस मूलभूत समस्या का केवल मिथ्या समाधान प्रस्तुत करते हैं। "जब आप भगवद्गीता को, बाइबिल को, अथवा किसी चीनी धर्मशास्त्र को उद्धृत करते हैं, तो बेशक आप उसे दोहरा भर रहे होते हैं। और जिसे आप दोहराते हैं वह सत्य नहीं होता। वह झूठ ही है, क्योंकि सत्य को दोहराया नहीं जा सकता।" झूठ का विस्तार किया जा सकता है, उसका प्रतिपादन किया जा सकता है, उसकी आवृत्ति की जा सकती है, परंतु सत्य के विषय में यह सब मुमकिन नहीं है। और जब आप सत्य को दोहराते हैं, वह सत्य नहीं रहता और इसीलिए धर्मशास्त्र अनावश्यक हैं, बेमानी हैं। किसी दूसरे के प्रतीकों में विश्वास के द्वारा नहीं, बल्कि स्वबोध के द्वारा ही कोई व्यक्ति उस शाश्वत यथार्थ को स्पर्श कर पाता है जो उसके अस्तित्व का आधार है। यह विश्वास कि कोई प्रदत्त प्रतीक-प्रणाली पूर्णतः

उपादेय है तथा उसका परम महत्त्व है, हमें मुक्ति की ओर न ले जाकर इतिहास की ओर यानी उन्हीं प्राचीन विपत्तियों की ओर ही अधिक ले जाता है। “विश्वास अनिवार्यतः विभाजित करता है। यदि आपका कोई विश्वास है अथवा आप अपने किसी विशिष्ट विश्वास में सुरक्षा ढूँढ़ रहे हैं, तो आप उन व्यक्तियों से अलग पड़ जाते हैं जो किसी दूसरे प्रकार के विश्वास में सुरक्षा खोज रहे हैं। सभी संगठित विश्वास अलगाव पर आधारित हैं, यद्यपि वे भाईचारे का उपदेश देते हैं।” जिस व्यक्ति ने प्रदत्तों एवं प्रतीकों के दो विश्वों के साथ अपने संबंध की समस्या का समाधान कर लिया है, वह वही व्यक्ति हो सकता है जो विश्वास से मुक्त है। जहां तक उसके व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का संबंध है, वह कार्यवाहक प्राक्कल्पनाओं की शृंखला को स्वीकार करता है; वे उसकी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं, परंतु वे प्राक्कल्पनाएं उसके लिए एक माध्यम, एक साधन से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अपने साथी प्राणियों के संदर्भ में तथा उस यथार्थ के संदर्भ में जिसमें कि वे सब अवस्थित हैं, प्रेम एवं अंतर्दृष्टि की उस व्यक्ति की अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। यह विश्वासों से अपनी रक्षा करने के लिए ही था कि कृष्णमूर्ति ने “किसी धार्मिक साहित्य को नहीं पढ़ा, न तो भगवद्गीता को और न उपनिषदों को”। बाकी हम लोग तो धार्मिक साहित्य पढ़ते ही नहीं हैं, हम तो अपने प्रिय समाचार-पत्रों को तथा जासूसी कहानियों को पढ़ा करते हैं। अर्थात् अपने युग के संकट का सामना हम प्रेम एवं सूझ से नहीं करते, बल्कि ‘रूढ़ियों एवं विचार-प्रणालियों से’ करते हैं और ये रूढ़ियां एवं विचार-प्रणालियां इसमें समर्थ हैं नहीं। परंतु “सहृदय व्यक्तियों को रूढ़ियों का सहारा नहीं लेना चाहिए,” क्योंकि रूढ़ियां हमें अनिवार्यतः ‘अंधविश्वासी सोच’ में ले जाती हैं। रूढ़ियों का आदी होना एक बहुत आम बात है, और ऐसा क्यों न हो, क्योंकि “हमारा पालन-पोषण हम क्या सोचें इस पर आधारित होता है, इस पर नहीं कि हम कैसे सोचें”। साम्यवादी, ईसाई, मुसलमान, हिंदू, बौद्ध, फ्रायडवादी जैसे किसी-न किसी प्रकार के संगठन के सक्रिय अनुयायियों के रूप में हम पले-बढ़े हैं। परिणामस्वरूप, “आप किसी भी चुनौती के प्रति जो सदा नयी होती है, किसी प्राचीन प्रारूप के ही अनुसार प्रतिक्रिया करते हैं, और इसलिए प्रतिक्रिया में उस चुनौती के अनुरूप वैधता, नवीनता और ताज़ापन नहीं होता। यदि आप कैथोलिक या साम्यवादी के रूप में प्रतिक्रिया करते हैं, तो आप किसी ढांचे के अनुरूप बनाए गए विचार के अनुसार ही प्रतिक्रिया करते हैं। अतः आपकी प्रतिक्रिया की कोई सार्थकता नहीं है। और क्या हिंदू ने, मुसलमान ने, बौद्ध ने, ईसाई ने यह समस्या निर्मित नहीं की है? जैसे कि राज्य की उपासना एक नया धर्म हो गया है, उसी प्रकार किसी विचार की उपासना प्राचीन धर्म था। यदि आप पुराने संस्कारों के अनुसार किसी चुनौती का उत्तर देते हैं, तो आपका उत्तर आपको उस नयी चुनौती को समझने में सक्षम नहीं बनाएगा। इसलिए, “नयी चुनौती का सामना करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं को आवरणों से पूर्णतया मुक्त कर ले, अपनी पृष्ठभूमि का पूर्णतया परित्याग कर दे और इस प्रकार उस चुनौती का नये सिरे से सामना करे।” दूसरे शब्दों में, प्रतीकों को रूढ़ सिद्धांतों का दर्जा कभी नहीं देना चाहिए, और किसी भी विचार-प्रणाली को एक कामचलाऊ सुविधा से अधिक महत्त्व नहीं मिलना चाहिए। रूढ़ियों में विश्वास करने से तथा इन विश्वासों के अनुसार कर्म करने से हमें समस्या का समाधान नहीं मिल सकता। “अपने बारे में सर्जनशील बोध के द्वारा ही एक सर्जनशील संसार, एक सुखी संसार, एक ऐसा संसार जिसमें विचार प्रणालियां न हों, संभव है।” वह विश्व जिसमें विचार प्रणालियां नहीं हैं, एक सुखी विश्व होगा क्योंकि वह एक ऐसा विश्व होगा

जिसमें संस्कारग्रस्त करने वाली प्रबल शक्तियां नहीं होंगी जो व्यक्ति को अनुचित कार्य के लिए बाध्य किया करती हैं; वह एक ऐसा विश्व होगा जिसमें पवित्र माने गए वे रूढ़ सिद्धांत न होंगे जिनकी दुहाई देकर जघन्य से जघन्य अपराधों को न्यायोचित ठहराया जाता है, बड़ी-से-बड़ी मूर्खताओं को विस्तार से विवेक-सम्मत बनाया जाता है।

जो शिक्षा हमें कैसे सोचें न सिखा कर यह सिखाती है कि हम क्या सोचें, एक ऐसी शिक्षा है जो पादरियों और स्वामियों के शासक वर्ग को पैदा करती है। लेकिन, “दूसरे का नेतृत्व करने का यह विचार अपने आप में ही समाज-विरोधी और अध्यात्म-विरोधी है।” नेतृत्व करने वाले व्यक्ति की शक्तिलोलुपता को तो इससे तुष्टि मिलती ही है, और जिनका नेतृत्व किया जाता है उनकी निश्चितता और सुरक्षा की आकांक्षा के लिए भी यह संतोषदायी होता है। और गुरु इसमें एक प्रकार से मादक द्रव्य का कार्य करता है। परंतु यहां यह पूछा जा सकता है, “आप क्या कर रहे हैं? क्या आप गुरु की भूमिका नहीं निभा रहे?” कृष्णमूर्ति का उत्तर है, “निश्चय ही, मेरी भूमिका गुरु की नहीं है, क्योंकि सबसे पहली बात तो यह है कि मैं आपको कोई परितुष्टि, कोई तसल्ली नहीं दे रहा हूं। क्षण-क्षण, दिन-प्रतिदिन आपको क्या करना चाहिए यह मैं आपको नहीं बता रहा, मैं केवल किसी ओर संकेत कर रहा हूं, आप उसको लें या छोड़ दें, यह आप पर निर्भर करता है न कि मुझ पर। मैं आपसे आपकी उपासना, आपकी चाटुकारिता, आपके अपमान, आपके देवता, कुछ भी नहीं चाहता। मेरा कहना है, यह एक तथ्य है, इसे स्वीकार करें या छोड़ दें। आपमें से अधिकांश इसे छोड़ देंगे, कारण यह कि आपको इसमें कोई संतुष्टि नहीं मिलने वाली।”

वास्तव में वह क्या है जिसे कृष्णमूर्ति हमारे सामने रखते हैं? वह सच में है क्या, जिसे हम चाहें तो ले सकते हैं, लेकिन संभावना इसी की अधिक है कि उसे हम लेना ही पसंद न करें। जैसा कि हमने देखा, वह न तो विश्वासों की कोई प्रणाली या रूढ़ सिद्धांतों की कोई सूची है, न बने-बनाये विचारों एवं आदर्शों का कोई ढांचा। वे न तो कोई नेतृत्व देते हैं, न कोई ध्यान-पद्धति और न कोई आध्यात्मिक दिशा-निर्देश, यहां तक कि वे कोई अनुकरणीय उदाहरण भी नहीं देते। उनसे न तो कोई कर्मकांड मिलता है, न कोई संप्रदाय, न कोई व्यवहार-सूत्र, न उद्धार हो जाने की अनुभूति और न ही किसी प्रकार का प्रेरक प्रतीत होने वाला शब्दजाल।

तो क्या बात आत्म-अनुशासन की है? नहीं, क्योंकि यह बड़ा कठोर सत्य है कि आत्म-अनुशासन भी हमारी समस्या के समाधान का मार्ग नहीं है। यह समाधान तभी संभव है, जब हमारा मन यथार्थ की ओर उन्मुख हो और बिना किन्हीं पूर्वधारणाओं एवं प्रतिबंधों के बाह्य एवं आंतरिक विश्वों की यथास्थिति का सामना करे। (ईश्वर की सेवा में ही पूर्ण स्वतंत्रता है। इसी प्रकार इसका विलोम भी सत्य है कि पूर्ण स्वतंत्रता में ही ईश्वर की सेवा है।) अनुशासित होने से मन में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता, रहता वह पुराना ही है, पर “नियंत्रण में बंधा और जकड़ा हुआ”।

आत्म-अनुशासन उन बातों की सूची में आ जाता है जिन्हें कृष्णमूर्ति हमें नहीं देते। तो क्या जो वे देते हैं, उसे प्रार्थना कहा जा सकता है? उत्तर फिर नहीं में होगा। “प्रार्थना आपको वही उत्तर दे सकती है जिसे आप खोज रहे हैं; लेकिन वह उत्तर तो उस अचेतन से अथवा उस समष्टि स्रोत से आ सकता है जो आपकी समस्त तृष्णाओं का भंडार है। वह उत्तर ईश्वर का मौन स्वर तो नहीं होता”। ज़रा सोचें, कृष्णमूर्ति कहते हैं, “उस समय होता क्या है जब आप प्रार्थना

करते हैं। किन्हीं शब्दों को निरंतर दोहराने से, और अपने विचारों पर काबू पा लेने से मन शांत हो जाता है, नहीं हो जाता? कम-से-कम चेतन मन तो शांत हो ही जाता है। आप ईसाइयों की तरह प्रार्थना में झुकते हैं अथवा हिंदुओं की तरह आसन लगाकर बैठते हैं और आप कुछ-न-कुछ दोहराते जाते हैं, जब तक कि मन चुप नहीं हो जाता। तब उस शांति में किसी तरह का संकेत आपको मिलता है। आपकी प्रार्थना के फलस्वरूप मिलने वाला वह संकेत आपके अचेतन से आ सकता है, या वह आपकी स्मृति की प्रतिक्रिया भी हो सकता है। परंतु वह आवाज़ निस्संदेह यथार्थ की नहीं है, क्योंकि यथार्थ की आवाज़ तो स्वयं ही आपके पास आती है, उससे निवेदन नहीं किया जा सकता, उससे प्रार्थना नहीं की जा सकती। आप पूजा और भजन के द्वारा, फूल चढ़ाकर उसे खुश करके, अपना दमन करके या औरों का अनुकरण करके, ऐसे किसी भी प्रलोभन के द्वारा उसे अपने छोटे से पिंजड़े में कैद नहीं कर सकते। यदि एक बार आपने शब्दों की आवृत्ति से मन को शांत करने की और उस शांति में संकेतों को प्राप्त करने की चतुराई सीख ली, और यदि आप इस बारे में पूर्णतया सतर्क नहीं रहे कि वे संकेत कहां से आ रहे हैं, तो खतरा यह है कि आप इसमें फंस जायेंगे और तब यह प्रार्थना ही सत्य की खोज का स्थान ले लेगी। जो आप मांगते हैं वह आपको मिलता तो है, लेकिन वह सत्य नहीं होता। यदि आप कुछ चाहते हैं और उसके लिए निवेदन करते हैं तो उसे पा भी लेते हैं, लेकिन अंत में आपको उसकी कीमत चुकानी पड़ती है।”

प्रार्थना से हम योग पर आते हैं, और योग भी उन्हीं चीजों में से है जो कृष्णमूर्ति हमें नहीं देते। क्योंकि योग एकाग्रता है और एकाग्रता बहिष्करण है। “किसी एक विचार को चुन कर उस पर एकाग्रचित्त होकर आप प्रतिरोध की दीवार खड़ी कर लेते हैं और इस प्रकार आप सभी दूसरे विचारों से बचते हैं।” जिसे प्रायः ध्यान कहा जाता है, वह “प्रतिरोध का संवर्धन है, उसमें अपनी इच्छा के किसी विचार पर पूरी तरह से एकाग्र हुआ जाता है।” परंतु आप यह चुनाव करते क्यों हैं? आप यह क्यों कहते हैं कि यही विचार अच्छा है, सत्य है, महान है, और बाकी विचार ऐसे नहीं हैं? स्पष्ट है कि यह चुनाव सुख पर, पुरस्कार या उपलब्धि पर आधारित है; यह भी हो सकता है कि यह चुनाव व्यक्ति की संस्कारबद्धता एवं परंपरा की प्रतिक्रिया हो। आप चुनाव करते ही क्यों हैं? क्यों नहीं आप प्रत्येक विचार का परीक्षण करते? जब आपकी रुचि अनेक में है तो क्यों आप एक ही का चुनाव करते हैं? प्रत्येक का निरीक्षण क्यों नहीं करते? प्रतिरोध खड़ा करने के स्थान पर अथवा केवल एक विचार में, केवल एक रुचि में एकाग्रचित्त होने के बजाय प्रत्येक रुचि का, जैसे-जैसे वह उभरती है, अध्ययन क्यों नहीं करते? आखिरकार आप अनेक रुचियों से बने हैं; आपके अनेक मुखौटे हैं, चाहे वे चेतन हों अथवा अचेतन। तो आप क्यों एक को ही चुनते हैं और बाकी का परित्याग कर देते हैं? यही है वह संघर्ष जिसमें आप अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं और इस संघर्ष से प्रतिरोध, द्वंद्व एवं कलह पैदा किया करते हैं। दूसरी ओर, यदि आप प्रत्येक विचार पर, जैसे-जैसे वह आता-जाता है, ध्यान दें, प्रत्येक विचार पर, न कि कुछ थोड़े से विचारों पर, तो कोई भी विचार ध्यान की परिधि से बाहर नहीं रहता। लेकिन प्रत्येक विचार का निरीक्षण करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि जब आप एक विचार को देख रहे होते हैं, तो दूसरा चुपके से आ जाता है। परंतु यदि आप बिना ज़ोर-ज़बरदस्ती के, बिना पक्षपात के सजग हैं, तो आप पाएंगे कि उस विचार को देखने मात्र से ही वहां कोई दूसरा विचार प्रवेश नहीं करता। दूसरे विचार तभी प्रवेश करते हैं जब आप निंदा करते हैं, तुलना करते हैं, ज़बरदस्ती करते हैं।”

“दूसरों का मूल्यांकन न करें, ताकि आपका भी मूल्यांकन न हो।” बाइबिल का यह वाक्य दूसरों के साथ व्यवहार करने में तो उपयोगी है ही, अपने साथ व्यवहार करने में भी उपादेय है। जहां मूल्यांकन होता है, जहां तुलना होती है, जहां निंदा होती है, वहां मन के खुलेपन का अभाव होता है, प्रतीकों और विचार-प्रणालियों की खतरनाक जकड़ बनी रहती है; अतीत एवं परिवेश से बचने का तब कोई रास्ता नहीं मिलता।

पहले से निश्चित किसी प्रयोजन से अंतर्निरीक्षण करना, किसी परंपरागत विधान अथवा पवित्र मानी गई किन्हीं अभिधारणाओं की सीमा में आत्म-निरीक्षण करना हमारी सहायता नहीं करता, कर ही नहीं सकता। जीवन की एक सहजता है, जो अतीन्द्रिय है और जिसे कृष्णमूर्ति ‘सर्जनशील यथार्थ’ कहते हैं, और जो सहजता अंतर्निहित रूप में केवल तभी अभिव्यक्त होती है जब द्रष्टा का मन एक ‘सतर्क निष्क्रियता’ की, ‘निष्पक्ष सजगता’ की अवस्था में होता है। पक्ष अथवा विपक्ष में निर्णय लेने से, तुलना करने से हम अनिवार्यतः द्वैत से बंध जाते हैं। केवल चुनावरहित सजगता ही हमें द्वैत से मुक्ति की ओर ले जा सकती है, केवल वही विरोधों का सामंजस्य समग्र बोध एवं समग्र प्रेम में कर सकती है। यदि आप प्रेम करते हैं तो आप चाहे जो कर सकते हैं। लेकिन यदि आपकी शुरुआत किसी परंपरागत विचार-प्रणाली या धारणाओं अथवा किन्हीं आदर्शों या विधि-निषेधों की आज्ञानुसार कुछ चाहने और कुछ न चाहने से होती है तो आप प्रेम कभी नहीं कर पाएंगे। आप जो भी संकल्प करते हैं तथा आपकी जो भी प्रतिक्रिया होती है—उन प्रतीक-प्रणालियों के संदर्भ में जो आपको यह बताती हैं कि आपको कैसा संकल्प करना चाहिए और कैसा नहीं—इस सबके प्रति सहज सजगता में ही मुक्ति की प्रक्रिया का आरंभ है। जैसे-जैसे यह सहज सजगता परत-दर-परत अहं तथा उससे संबंधित अवचेतन में प्रवेश करती जायेगी, प्रेम तथा बोध आता जायेगा। परंतु वह प्रेम एवं बोध हमारे सामान्यतः परिचित प्रेम और समझ से भिन्न प्रकार का होगा। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक क्षण में होने वाली यह सहज सजगता ही एकमात्र वास्तविक ध्यान है। सभी दूसरे प्रकार के योग हमें उस अंधविश्वासी विचारणा तक ले जाते हैं, जो या तो आत्म-अनुशासन का परिणाम होती है या स्वप्रेरित आनंद अथवा मिथ्या समाधि का कोई रूप। ‘सर्जनशील यथार्थ की आंतरिक स्वतंत्रता’ ही वास्तविक मुक्ति है। यह “किसी के द्वारा मिलने वाला उपहार नहीं है; इसे खोजना और अनुभव करना होता है। यह कोई उपार्जित उपलब्धि नहीं है जिसका आप अपने यश के लिए संग्रह करते हैं। यह एक अवस्था है, जैसे मौन एक अवस्था है, जिसमें कुछ होना या बनना नहीं होता, जिसमें पूर्णता होती है। यह आवश्यक नहीं है कि यह सर्जनशीलता अभिव्यक्ति का कोई मार्ग खोजे; यह कोई प्रतिभा नहीं है जो बाह्य अभिव्यक्ति की मांग करे, इसके लिए आपको कोई महान कलाकार बनने की आवश्यकता नहीं होती और न इसके लिए श्रोतागण ही चाहिए; यदि आप यही सब खोज रहे हैं तो आप उस आंतरिक यथार्थ को खो देंगे। यह न तो आपको मिलने वाला कोई उपहार है, न आपकी किसी विलक्षण योग्यता का परिणाम; यह अक्षय कोष तभी उपलब्ध होता है जब विचार स्वयं को वासना, दुर्भावना एवं अज्ञान से मुक्त कर लेता है, जब विचार स्वयं को सांसारिकता से तथा कुछ बनने की वैयक्तिक लालसा से मुक्त कर लेता है। सम्यक् विचार तथा ध्यान से इसकी अनुभूति की जा सकती है।” निष्पक्ष आत्म-सजगता हमें इस सर्जनात्मक यथार्थ तक लाएगी, जो हमारे तमाम विनाशकारी मिथ्या विश्वासों के पार है; ऐसी सजगता हमें तमाम अज्ञान के बावजूद, उस तथाकथित ज्ञान के बावजूद जो कि अज्ञान का ही

रूप है, उस प्रशांत प्रज्ञा तक ले जाने में सक्षम है। ज्ञान प्रतीकों का ही एक व्यापार है और प्रज्ञा के लिए वह प्रायः सदा ही अवरोध का कार्य करता है, वह स्व के क्षण-प्रतिक्षण उजागर होने में बाधा डालता है। जो मन प्रज्ञा की स्थिरता तक पहुंच गया है “वही सत् को, होने को जान पाएगा, वही जानेगा कि प्रेम करना किसे कहते हैं। प्रेम न तो वैयक्तिक होता है, न अवैयक्तिक। प्रेम प्रेम है; जोड़ने या छोड़ने की प्रक्रिया के ज़रिये उसकी परिभाषा या व्याख्या करना बेमानी होगा। प्रेम अपनी चिरंतनता स्वयं है; वह यथार्थ है, सर्वोपरि है, असीम है।”

—ऑल्डस हक्सले

## विषय-प्रवेश

---

हम भले ही एक-दूसरे को भली-भांति जानते हों, फिर भी आपस में संवाद हो पाना बड़ा कठिन होता है। हो सकता है मैं कुछ शब्दों का प्रयोग करूं जिनका आपके लिए जो अर्थ है, वह मेरे अर्थ से भिन्न हो। जब हम, आप और मैं एक ही समय में एक ही स्तर पर मिलते हैं, तभी समझना हो पाता है। ऐसा तभी होता है जब व्यक्तियों में, पति और पत्नी में, अंतरंग मित्रों में, वास्तविक स्नेह हो। वही वास्तविक संवाद है। तत्काल बोध तभी संभव है जब हम एक ही समय में एक ही स्तर पर मिलते हैं।

एक-दूसरे के साथ सरलता से, सार्थक तथा सुनिश्चित कर्म के साथ अंतरंग संवाद कर पाना बड़ा कठिन है। मैं उन शब्दों का प्रयोग कर रहा हूं जो सरल हैं—जो शास्त्रीय नहीं है, क्योंकि मेरे विचार से कोई भी शास्त्रीय शब्दावली हमारी कठिन समस्याओं के समाधान में सहायक नहीं हो सकती; इसलिए चाहे वे मनोविज्ञान के शब्द हों या विज्ञान के, मुझे शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग नहीं करना है। सौभाग्य से मैंने न तो मनोविज्ञान पढ़ा है और न किन्हीं धार्मिक पुस्तकों को। बड़े सरल शब्दों के द्वारा, जिन्हें हम अपने नित्य के जीवन में प्रयोग करते हैं, मैं एक गहरे अर्थ को व्यक्त करना चाहूंगा; लेकिन यदि आप इस बात से परिचित नहीं हैं कि सुना कैसे जाता है तो यह करना भी बड़ा कठिन होगा।

सुनना एक कला है। वास्तव में सुनने में सक्षम होने के लिए व्यक्ति को अपने समस्त पूर्वाग्रहों का, पूर्वमान्यताओं का तथा रोज़मर्रा की आदतों का परित्याग करना होगा, उन्हें एक तरफ कर देना होगा। किसी भी चीज़ को उसी समय आसानी से समझा जा सकता है जब मन ग्रहणशील अवस्था में होता है; आप सुन तभी पाते हैं जब किसी चीज़ पर आप सचमुच ध्यान देते हैं। परंतु दुर्भाग्य से अधिकांश व्यक्ति प्रतिरोध के आवरण के पीछे से सुनते हैं। हम पूर्वाग्रहों से घिरे रहते हैं—वे धार्मिक हों अथवा आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक हों अथवा वैज्ञानिक; या फिर दैनिक चिंताएं, आकांक्षाएं और आशंकाएं हमें घेरे रहती हैं। इस प्रकार के आवरण के पीछे से हम सुनते हैं। अतः वास्तव में हम स्वयं अपने ही शोर को, अपनी ही आवाज़ को सुनते हैं, उसे नहीं जो कि कहा जा रहा है। अपने शिक्षा-संस्कारों का, अपने पूर्वाग्रहों का, अपने रुझान और प्रतिरोध का परित्याग कर एवं शाब्दिक अभिव्यक्तियों के परे जाकर इस प्रकार सुनना कि हमें तत्क्षण बोध हो सके, बड़ा दुष्कर है और यही हमारी कठिनाइयों में से एक होगी।

यदि इस वार्ता के दौरान कुछ भी ऐसा कहा जाये जो आपकी विचार-प्रक्रिया और विश्वास से अलग हो तो उसे ज़रा सुनें, उसका प्रतिरोध न करें। आप सही हो सकते हैं, और मैं गलत हो सकता हूं; लेकिन परस्पर सुनते एवं विचार करते हुए हम पता लगा लेंगे कि सत्य क्या है। सत्य

ऐसा कुछ नहीं जो कोई आपको दे सके। उसे आपको ही खोजना है; और उस खोज के लिए मन की एक ऐसी अवस्था आवश्यक हो जाती है जिसमें प्रत्यक्ष बोध हो सके। किसी भी तरह के प्रतिरोध, आवरण, संरक्षण के होते हुए प्रत्यक्ष बोध नहीं हो सकता। 'जो है' उसके प्रति जागरूक होने पर ही वह बोध संभव है। 'जो है' को, यथार्थ को, जैसा वास्तव में है उसको ठीक-ठीक जानना, बिना उसकी कोई व्याख्या किए, बिना निंदा या तरफदारी के निस्संदेह यही प्रज्ञा का आरंभ है। जब हम अपनी संस्कारबद्धता के अनुसार, अपने पूर्वाग्रह के अनुसार व्याख्या करने लगते हैं, रूपांतरण करने लगते हैं, तब हम सत्य को खो देते हैं। अंततः यह एक प्रकार का अनुसंधान ही है। कोई वस्तु क्या है, अपने वास्तविक रूप में वह क्या है, यह जानने के लिए अनुसंधान ज़रूरी है, आप उसे अपने मन की भावदशाओं के अनुसार परिभाषित नहीं कर सकते। इसी प्रकार यदि हम 'जो है' उसका ठीक-ठीक अवलोकन कर सकें, उसका निरीक्षण कर सकें, उसका श्रवण कर सकें, तो समस्या हल हो जाती है। और अपनी इन सब वार्ताओं में हम यही करने वाले हैं। 'जो है' उसकी ओर मुझे बस इशारा करना है, न कि अपनी मर्ज़ी से उसे परिभाषित करना; इसी प्रकार आपको भी अपनी पृष्ठभूमि अथवा शिक्षा-संस्कार के अनुसार निष्कर्ष नहीं निकालने, न ही उसकी व्याख्या करनी है।

तो क्या प्रत्येक वस्तु के प्रति, जैसी कि वह वास्तव में है, सजग होना संभव नहीं है? निश्चित ही समझ के लिए आरंभ वहीं से करना होगा। जैसा वास्तव में है उसे स्वीकार करना, उसके प्रति अवधानपूर्ण होना, उस तक पहुंचना, संघर्ष का अंत कर देना है। यदि मैं जानता हूँ कि मैं झूठा हूँ और यह एक ऐसा तथ्य है जिसे मैं देख लेता हूँ, तो संघर्ष समाप्त हो जाता है। स्वयं व्यक्ति क्या है उसके प्रति अवधान होना, उसे स्वीकार करना ही प्रज्ञा का, बोध का आरंभ है और यह आपको समय से मुक्त कर देता है। समय को बीच में ले आना हानिकारक है, वह भ्रांति पैदा करता है; यहां समय से अभिप्राय ऐतिहासिक काल-क्रम वाले समय से नहीं है, बल्कि एक माध्यम, एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अर्थात् मन की क्रिया से है।

इस प्रकार जब हम 'जो है' उसे बिना निंदा या तरफदारी के, बिना तादात्म्य के पहचान लेते हैं तो हम वास्तविकता को समझ पाते हैं। मैं किस अवस्था में हूँ, किस हालत में हूँ यह जानना ही मुक्ति की प्रक्रिया है। परंतु एक ऐसा व्यक्ति जो अपनी अवस्था से, अपने संघर्ष से परिचित नहीं है, अपनी वास्तविकता से हटकर कुछ और होने की कोशिश करता है, जो एक आदत बन जाती है। अतः इसका ध्यान रखें कि 'जो है', हमें उसका अवलोकन करना है; बिना उसे किसी प्रकार का रूप प्रदान किए, बिना किसी प्रकार की व्याख्या किए, केवल वास्तविकता का ठीक-ठीक निरीक्षण करना है और उसके प्रति सचेत होना है। वास्तविकता के प्रति, 'जो है' उसके प्रति सजग होने के लिए और उसे समझने के लिए एक असाधारण मेधावी मन की, एक असाधारण नमनीय हृदय की आवश्यकता होती है। क्योंकि 'जो है' वह निरंतर गतिशील है, उसमें निरंतर परिवर्तन हो रहा है और यदि मन विश्वास द्वारा संचित ज्ञान से जकड़ा रहता है तो वह 'जो है' उसकी तीव्रगति का अनुशीलन नहीं कर पाता, उसे समझ नहीं पाता। 'जो है', यकीनन वह स्थिर नहीं है, वह निरंतर गतिशील है, जैसा कि आप उसका बड़ी निकटता से निरीक्षण करने पर पाएंगे। उसे समझने के लिए एक फुर्तीले मन की और एक नमनीय हृदय की आवश्यकता होती है। और जब मन स्फूर्तिहीन होता है, किसी तादात्म्य, पूर्वाग्रह अथवा किसी विश्वास में जकड़ा होता है, तब यह सब संभव नहीं होता। 'जो है' उसका सहज-सरल अनुगमन

एक ऐसे मन एवं हृदय के लिए संभव नहीं है, जो शुष्क है।

मैं समझता हूँ कि हम यह जानते हैं कि आज व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों ही स्तरों पर अशांति, अव्यवस्था, एवं क्लेश का बोलबाला है और इस बात के एहसास के लिए अधिक वाद-विवाद की, शब्दाडंबर की ज़रूरत नहीं है। ऐसा भारत में ही नहीं, बल्कि सारे विश्व में है; चीन, अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, सारे विश्व में अशांति और दुःख है, जो निरंतर बढ़ता जा रहा है। यह केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं है, यह विशेषतः यहां ही नहीं, सारे विश्व में है। एक असाधारण दारुण दुःख है, और वह व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक भी है। यह विनाश विश्वव्यापी है और इसे केवल किसी भौगोलिक क्षेत्र में, मानचित्र के किसी रंगे हुए अंश में सीमित करना मूर्खता है, क्योंकि ऐसा करने से हम इस विश्वव्यापी एवं व्यक्तिगत व्यथा के पूरे अर्थ को समझने से वंचित रह जायेंगे। अब इन हालात से हम कैसे निपटेंगे। हमारा क्या प्रत्युत्तर होगा।

दुःख तो है, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक भी, हमारा समस्त मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व भ्रांत है और सभी नेताओं ने, चाहे वे राजनीतिक हों या धार्मिक, हमें दिग्भ्रमित किया है; सभी ग्रंथों ने अपना महत्त्व खो दिया है। भगवद्गीता या बाइबिल का अथवा राजनीति या मनोविज्ञान पर लिखे किसी भी आधुनिकतम ग्रंथ का अध्ययन करने पर आप देखेंगे कि उन्होंने सच्चाई के उस जड़बे को, उस गुण को खो दिया है; वे कोरे शब्द बनकर रह गए हैं। आप स्वयं जो कि उन शब्दों को निरंतर दोहराते रहते हैं, भ्रांत और अनिश्चित हैं, और शब्दों को दोहरा देने भर से तो कुछ भी व्यक्त नहीं होता। अतः शब्दों और ग्रंथों का कोई मतलब नहीं रह गया। तात्पर्य यह है कि जब आप बाइबिल, या मार्क्स या भगवद्गीता को उद्धृत करते हैं और चूंकि आप स्वयं ही अनिश्चित और भ्रांत हैं, आपका उद्धरण, आपकी यह पुनरावृत्ति एक झूठी चीज़ बनकर रह जाती है क्योंकि वहां जो लिखा है वह केवल प्रचार भर रह जाता है और प्रचार सत्य नहीं होता। इसलिए जब आप दोहराते हैं, तब स्वयं अपनी अवस्था को देखने-समझने की प्रक्रिया में विराम लग जाता है। आप किसी शब्द-प्रामाण्य के पीछे अपनी भ्रांति को छिपाते हैं। परंतु हम इस भ्रांति को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं, न कि उसको उद्धरणों से ढंकने का। तो इस बारे में आप क्या सोचते हैं? इस असाधारण अस्त-व्यस्तता एवं भ्रांति के प्रति, अस्तित्व की इस अनिश्चितता के प्रति, आपकी क्या प्रतिक्रिया है? इस चर्चा के दौरान आप उस प्रतिक्रिया के प्रति सावधान रहें : मेरे शब्दों को नहीं, बल्कि अपने भीतर क्रियाशील विचार को देखें। हममें से ज़्यादातर लोग दर्शक ही बनने के आदी हैं, खेल में शामिल नहीं होते। हम पुस्तकें पढ़ते हैं, पर लिखते कभी नहीं। यह हमारी परंपरा हो गई है, हमारी राष्ट्रीय एवं सामान्य आदत हो गयी है कि हम दर्शक बने रहें, फुटबाल के खेल को, सार्वजनिक राजनीतिज्ञों को और वक्ताओं को देखते रहें, सुनते रहें। हम केवल बाहरी व्यक्ति हैं, दर्शक मात्र, हमने अपनी सर्जनात्मक क्षमता खो दी है। बस दूर खड़े रहकर ही हम सहभागी बन जाना चाहते हैं।

परंतु यदि आप केवल मुआयना कर रहे हैं, दर्शक भर हैं तो आप इस वार्ता के तात्पर्य से वंचित रह जायेंगे, क्योंकि यह उस प्रकार का कोई व्याख्यान नहीं है जिसे आपको आदतन सुनना है। मैं आपको किसी विषय का विवरण देने नहीं जा रहा, वह तो आप किसी भी विश्वकोश में देख सकते हैं। हम यहां पर एक-दूसरे के विचारों को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं, हमारी चेष्टा है कि जितना अधिक-से-अधिक संभव हो सके, जितनी गहराई से संभव हो सके, हम अपने मनोभावों के संकेतों और प्रत्युत्तरों को समझ सकें। अतः कृपया यह जानने की चेष्टा करें कि

आपकी इस दुःख के बारे में, इस वेदना के बारे में क्या प्रतिक्रिया है; इस विषय में कोई अन्य क्या कहता है यह नहीं, बल्कि आप स्वयं कैसे प्रतिक्रिया करते हैं इसे जानने की चेष्टा करें। यदि आप इस दुःख से, इस अशांति से लाभान्वित हो रहे हैं, यदि आप उससे आर्थिक, सामाजिक या मनोवैज्ञानिक लाभ उठा रहे हैं, तो उस दुःख के प्रति आपकी प्रतिक्रिया उपेक्षा की हो सकती है। उस हालत में यह अशांति बनी भी रहे तो आप उसकी चिंता नहीं करते। निस्संदेह विश्व में जितना अधिक संकट होता है, जितनी अधिक अशांति होती है व्यक्ति उतनी ही अधिक सुरक्षा खोजता है। क्या आपने इस पर गौर नहीं किया? जब विश्व में अस्त-व्यस्तता होती है, तो मनोवैज्ञानिक रूप से, हर तरह से आप अपने को किसी न किसी प्रकार की सुरक्षा में कैद कर लेते हैं, वह सुरक्षा चाहे बैंक के खाते की हो या किसी विचार-संप्रदाय की। या फिर आप प्रार्थना करते हैं, मंदिर जाते हैं। यह सब तो विश्व में जो कुछ हो रहा है उससे पलायन ही है। अधिकाधिक संप्रदाय बनाए जा रहे हैं, सारे विश्व में अधिकाधिक 'वाद' पैदा हो रहे हैं। क्योंकि जितनी अधिक भ्रांति फैली होती है उतनी ही अधिक आपको किसी नेता की आवश्यकता होती है, किसी ऐसे व्यक्ति की जो आपको इस अशांति से निकाले और इसलिए आप धार्मिक पुस्तकों की ओर या नये से नये गुरु की ओर दौड़ते हैं; अथवा आप उस दक्षिणपंथी या वामपंथी विचार-व्यवस्था के अनुसार प्रतिक्रिया एवं कार्य करते हैं जिसके विषय में आप यह समझते हैं कि वह समस्या का हल कर देगी। सर्वत्र यही हो रहा है।

जैसे ही आपको इस अस्तव्यस्तता का, वस्तुतः 'जो है' उसका पता चलता है, आप उससे बचना चाहते हैं। वे संप्रदाय जो आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक दुःख के समाधान के रूप में कोई व्यवस्था देते हैं और भी खतरनाक हैं; क्योंकि तब व्यवस्था महत्त्वपूर्ण हो जाती है न कि मनुष्य—चाहे वह कोई धार्मिक व्यवस्था हो, वामपंथी हो अथवा दक्षिणपंथी। व्यवस्था महत्त्वपूर्ण हो जाती है, वह दर्शन या विचार महत्त्वपूर्ण हो जाता है न कि मनुष्य; और उस विचार के लिए, उस विचार-संप्रदाय के लिए आप समस्त मानवजाति का बलिदान करने को तैयार हो जाते हैं। ठीक यही आज विश्व में हो रहा है। यह मेरी व्याख्या मात्र नहीं है। यदि आप निरीक्षण करें, तो आप देखेंगे कि ठीक यही तो हो रहा है। व्यवस्था-प्रणाली महत्त्वपूर्ण हो गयी है। चूंकि व्यवस्था-प्रणाली अहम हो गई है अतः मनुष्यों ने, आपने और मैंने, महत्त्व खो दिया है; और उस व्यवस्था-प्रणाली का नियंत्रण करने वाले, चाहे वे धार्मिक हों या सामाजिक, चाहे वे वामपंथी हों या दक्षिणपंथी, अधिकार जमाने लगते हैं, सत्ता ग्रहण कर लेते हैं और इस प्रकार आपकी, यानी व्यक्ति की, आहुति दे देते हैं। ठीक यही हो रहा है।

तो इस भ्रांति का, इस क्लेश का कारण क्या है? केवल अंदर ही नहीं बल्कि बाहर भी, यह दुःख, यह क्लेश कैसे पैदा हुआ है? युद्ध की यह आशंका और भय, तीसरे विश्व-युद्ध की आहटें, यह सब क्योंकर हो रहा है? उसका कारण क्या है?

निस्संदेह यह हमारे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के पतन का एवं ऐंद्रिक मूल्यों के आडंबरपूर्ण अतिमहत्त्व का सूचक है, यह भौतिक वस्तुओं के मूल्य के महिमामंडन का सूचक है, चाहे वे वस्तुएं हाथ की बनाई हुई हों या मन की। मन, हाथ या मशीन द्वारा निर्मित वस्तुओं या भौतिक, ऐंद्रिक वस्तुओं के मूल्यों के अलावा जब और कोई मूल्य हमारे पास नहीं रह जाते तब क्या होता है? जितना अधिक महत्त्व हम वस्तुओं के ऐंद्रिक मूल्य को देते हैं, उलझन उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। यह मेरी कोई निजी अवधारणा नहीं है। आपके मूल्य, आपकी समृद्धि,

आपका आर्थिक और सामाजिक अस्तित्व मन या हाथ की बनी वस्तुओं पर आधारित है, यह जानने के लिए आपको पोथियों के प्रामाण्य की दुहाई देने की आवश्यकता नहीं है। हम ऐंद्रिक मूल्यों में ही जीते और कार्य करते हैं, उसमें अपने अस्तित्व को हमने डुबो दिया है। इसका अर्थ है कि मन की, हाथ की और मशीन की बनी वस्तुएं महत्त्वपूर्ण हो गई हैं; और जब वस्तुएं महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं, तो मान्यताओं को ही सबके ऊपर गौरव मिल जाता है। जो विश्व में हो रहा है ठीक यही तो है, नहीं क्या?

अतः ऐंद्रिक मूल्यों को अधिकाधिक महत्त्व प्रदान करना भ्रांतिजनक है; और चूंकि हम भ्रांत हैं, हम तरह तरह से पलायन की कोशिश में लग जाते हैं, यह पलायन चाहे धार्मिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हो, किसी महत्त्वाकांक्षा के रूप में हो अथवा ताकत या यथार्थ की खोज के द्वारा। परंतु यथार्थ तो निकट है, उसे खोजने की आवश्यकता नहीं होती; जो व्यक्ति सत्य को खोजता है, वह उसे कभी नहीं पाएगा। 'जो है', सत्य उसी में विद्यमान है और यही उसका सौंदर्य है। परंतु जैसे ही आप उसके विषय में अवधारणा बनाते हैं, जैसे ही आप उसे खोजने लगते हैं, आप संघर्ष शुरू कर देते हैं; और जहां संघर्ष है, वहां बोध संभव नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि हम शांत, सजग और निश्चेष्ट रूप से जागरूक हों। हम देखते हैं कि हमारा जीवन, हमारा कर्म, सदा विनाश की परिधि के अंदर होता है, सदा दुःख के दायरे में रहता है; भ्रांति और अव्यवस्था सागर की लहरों की तरह सदा हम पर हावी हो जाती हैं। अस्तित्व के इस विभ्रम में हमें कहीं भी अवकाश नहीं मिलता।

अभी हम जो कुछ भी कर रहे हैं, ऐसा लगता है उससे हम अशांति की ओर, क्लेश और दुःख की ओर ही बढ़ रहे हैं। अपने जीवन को देखिए और आप पाएंगे कि हमारा जीवन सदा ही दुःख के कगार पर है। युद्ध को रोकने के लिए होने वाले हमारे सभी प्रयत्न, हमारी सामाजिक गतिविधि, हमारी राजनीति, राष्ट्रों के अनेकानेक सम्मेलन, ये सभी और अधिक संघर्ष ही पैदा करते हैं। जीवन के पीछे-पीछे विनाश चल रहा है; हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह हमें मृत्यु की ओर ले जा रहा है। यही है जो वास्तव में हो रहा है।

क्या इस क्लेश को हम तुरंत समाप्त कर सकते हैं, और क्या उलझन और दुःख की जकड़ से मुक्ति पा सकते हैं? बुद्ध अथवा ईसा जैसे महान व्यक्ति आए, उन्होंने किसी आस्था को स्वीकार किया और संभवतः अपने को भ्रांति और दुःख से मुक्त कर लिया। परंतु वे कभी भी दुःख का निवारण नहीं कर पाए, कभी-भी भ्रांति को समाप्त नहीं कर सके। भ्रांति बनी हुई है, दुःख बना हुआ है। इस सामाजिक और आर्थिक भ्रांति को, इस अशांति और क्लेश को देखकर आप अपने को तथाकथित धार्मिक जीवन में समेट लें और संसार का परित्याग कर दें, तो आपको यह अनुभव हो सकता है कि आप इन महानुभावों में सम्मिलित हो रहे हैं; लेकिन विश्व अपनी अशांति में, अपने क्लेश और विनाश में, धनिकों और निर्धनों के अंतहीन दुःख-भोग में, बना रहता है। अतः हमारी समस्या, आपकी और मेरी समस्या यह है कि क्या इस क्लेश से हम तत्क्षण ही बाहर निकल सकते हैं? यदि इस विश्व में रह कर भी आप उसका अंग बनना अस्वीकार कर दें तो आप इस अशांति से निकलने में औरों की सहायता करेंगे—भविष्य में नहीं, कल नहीं, बल्कि अभी, इसी क्षण। निस्संदेह यही हमारी समस्या है। संभवतः युद्ध आता दिखता है, जिसका रूप कहीं अधिक विनाशकारी, कहीं अधिक भयावह होगा। निस्संदेह हम उसे रोक नहीं सकते। क्योंकि झगड़े कहीं अधिक शक्तिशाली हैं, सिर पर मंडरा रहे हैं। परंतु आप और मैं

तुरंत ही उस भ्रांति और क्लेश को देख-समझ सकते हैं, क्या नहीं? हमें उनको महसूस कर लेना होगा, और तब हम उस स्थिति में होंगे कि दूसरों में भी सत्य के उस बोध को जगा सकें। दूसरे शब्दों में, क्या आप तत्क्षण मुक्त हो सकते हैं? क्योंकि इस क्लेश से निकलने का यही एक मार्ग है। प्रत्यक्ष बोध केवल वर्तमान में हो सकता है; परंतु यदि आप कहें, “मैं इसे कल करूंगा”, तो भ्रांति की लहरें आप पर अधिकार जमा लेंगी और आपको सदा के लिए भ्रांति की गिरफ्त में रहना होगा।

तो क्या उस अवस्था का घटित होना संभव है जब आप सत्य का स्वयं, तत्काल ही प्रत्यक्ष बोध कर लें और इस प्रकार भ्रांति का पूरी तरह से अंत कर दें? मेरा निवेदन है कि अवश्य ही, और केवल यही एक संभावना है। मेरा मानना है कि यह किया जा सकता है, और किया जाना चाहिए, पर किसी विश्वास या मान्यता के आधार पर नहीं। इस असाधारण क्रांति को लाना—जिसका अर्थ पूंजीपतियों से पीछा छुड़ा कर दूसरे वर्ग को स्थापित करना नहीं है—इस अद्भुत आमूल परिवर्तन को लाना जो कि एक सच्ची क्रांति है, यही एक चुनौती है। जिसे प्रायः क्रांति कहा जाता है वह दक्षिणपंथी विचारों का ही वामपंथी विचारों के अनुसार संशोधन अथवा सातत्य है। अंततः वामपंथी विचार का तात्पर्य दक्षिणपंथी विचारों को ही संशोधित रूप में बनाए रखना है। यदि दक्षिणपंथी विचार ऐंद्रिक मूल्यों पर आधारित हैं तो वामपंथी विचार भी ऐंद्रिक मूल्य ही हैं, अंतर केवल मात्रा या अभिव्यक्ति का है। अतः सच्ची क्रांति तभी हो सकती है जब आप, यानी व्यक्ति, दूसरों के साथ अपने संबंध के प्रति सचेत हों। वास्तव में दूसरे के साथ संबंध, अर्थात् अपनी पत्नी के साथ, अपने पुत्र के साथ, अपने अधिकारी के साथ, अपने पड़ोसी के साथ संबंध में आप जो कुछ हैं, वही तो समाज है। समाज अपने में कुछ नहीं है। जो आपने और मैंने अपने संबंधों में निर्मित किया है, वही समाज है। समाज हमारी अपनी तमाम आंतरिक मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का ही प्रक्षेपण है। इसलिए अगर आप और मैं स्वयं को नहीं समझते, तो केवल उस बाह्य को रूपांतरित करने का कोई महत्त्व नहीं रह जाता जो भीतर का ही प्रक्षेपण है। तात्पर्य यह है कि समाज में तब तक कोई महत्त्वपूर्ण बदलाव संभव नहीं है, जब तक मैं आपके साथ अपने संबंध को नहीं समझ पाता। अपने संबंध में भ्रांत होने के कारण मैं एक ऐसे समाज का निर्माण करता हूँ जो मेरा ही प्रतिरूप है, जो मेरी ही वास्तविकता की बाहरी अभिव्यक्ति है। यह एक स्पष्ट तथ्य है, जिस पर हम चर्चा कर सकते हैं। इस मुद्दे पर हम विमर्श कर सकते हैं कि क्या समाज ने, इस बाह्य अभिव्यक्ति ने मुझे निर्मित किया है, अथवा मैंने समाज को निर्मित किया है।

इसलिए क्या यह एक स्पष्ट तथ्य नहीं है कि दूसरों के साथ अपने संबंध में जो कुछ मैं हूँ, उसी ने समाज को निर्मित किया है और बिना स्वयं में आमूल परिवर्तन लाए समाज की आधारभूत कार्यप्रणाली में कोई रूपांतरण संभव नहीं है? जब हम समाज में परिवर्तन के लिए किसी व्यवस्था-प्रणाली को खोजते हैं तो हम समस्या को बस टाल रहे होते हैं, क्योंकि कोई भी व्यवस्था मनुष्य में आमूल परिवर्तन नहीं ला सकती। मनुष्य ही व्यवस्था को बदलता है। इतिहास यही दर्शाता है। जब तक आपके साथ संबंध में मैं स्वयं को नहीं समझ पाता, मैं ही इस अशांति का, क्लेश, विनाश, भय और बर्बरता का कारण बना रहूंगा। अपने को समझने के लिए समय की आवश्यकता नहीं होती; मैं ठीक इसी क्षण अपने को समझ सकता हूँ। यदि मैं यह कहता हूँ, ‘मैं खुद को कल समझूंगा’, तो मैं अव्यवस्था और क्लेश ही पैदा करूंगा, मेरा कार्य विनाशकारी

होगा। जिस क्षण मैं यह कहता हूँ कि 'समझूंगा', मैं समय को बीच में ले आता हूँ और इस तरह मैं भ्रांति और विनाश के तूफान में फंस जाता हूँ। बोध तो तत्क्षण होता है, कल नहीं। कल आलसी मन के लिए, प्रमादी मन के लिए होता है, उस मन के लिए जो निरुत्साही है।

जब आपकी किसी चीज़ में सचमुच रुचि होती है, तब आप उसे तुरंत करते हैं, वहां तुरंत बदलाव आ जाता है। यदि आप अभी, इसी क्षण नहीं बदलते हैं तो आप कभी नहीं बदलेंगे, क्योंकि वह परिवर्तन जो कल होता है, एक संशोधन मात्र है, वह मौलिक परिवर्तन नहीं होता। रूपांतरण केवल तत्काल ही हो सकता है। क्रांति इसी क्षण है, कल नहीं।

ऐसा होने पर आप समस्या से पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि तब स्व अपने विषय में चिंतित नहीं होता; तब आप विनाश की पहुंच से परे होते हैं।

## हम क्या खोज रहे हैं?

---

वह क्या है जिसकी खोज में हममें से अधिकतर व्यक्ति लगे हैं? वह क्या है जिसे प्रत्येक व्यक्ति चाहता है? इस बेचैन संसार में हर कोई किसी न किसी तरह की शांति, किसी खुशी, किसी आश्रय को पाने के लिए तरस रहा है। ऐसे में, हम आखिर क्या ढूँढ़ रहे हैं, क्या पाना चाह रहे हैं, इसका पता लगाना ज़रूरी है। संभवतः हममें से अधिकांश लोग किसी प्रकार की प्रसन्नता की, किसी प्रकार की शांति की खोज कर रहे हैं; अशांति, युद्ध, संघर्ष, कलह से भरे इस संसार में हम एक ऐसा आश्रय चाहते हैं, जहां कुछ शांति हो। मुझे लगता है अधिकांश व्यक्ति यही चाहते हैं। इसीलिए हम खोज में लगे हैं, हम एक के बाद दूसरे नेता के पीछे, एक धार्मिक संगठन से दूसरे धार्मिक संगठन की ओर, एक गुरु से दूसरे गुरु की ओर दौड़ते रहते हैं।

तो, क्या वास्तव में हम खुशी की खोज कर रहे हैं या किसी प्रकार की परितुष्टि की, मौज-मज़े की, जिससे हम खुशी पा लेने की उम्मीद रखते हैं? खुशी और तुष्टि में अंतर है। क्या खुशी को खोजा जा सकता है? आप संभवतः तुष्टि प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन खुशी नहीं। खुशी आनुषंगिक है, वह तो किसी और चीज़ के साथ अनायास चली आती है। यहां तीव्र जिज्ञासा की, ध्यान देने की, सोच की, ख्याल की ज़रूरत है, ऐसी किसी चीज़ की खोज में लगने से पहले हमें पता लगाना होगा कि हम पाना क्या चाहते हैं; खुशी या तुष्टि? मुझे लगता है कि हममें से अधिकांश व्यक्ति तुष्टि की तलाश कर रहे हैं। हम संतुष्ट होना चाहते हैं, अपनी खोज के अंत में पूर्णता का एहसास करना चाहते हैं।

आखिरकार यदि कोई व्यक्ति शांति खोज रहा है तो उसे वह बड़ी आसानी से पा सकता है। एक व्यक्ति आंखें मूंद कर अपने आप को किसी उद्देश्य, किसी विचार के लिए समर्पित कर सकता है, और उसी में आश्रय ले सकता है। निस्संदेह ऐसा करने से समस्या का हल नहीं होता है। किसी विचार के घेरे में अपने को अलग-थलग कर लेने से द्वंद्व से मुक्ति नहीं मिलती। अतः हमें अपने भीतर और बाहर पता लगाना होगा कि वह क्या है जिसे हममें से हर कोई चाहता है। यदि हम इस बारे में स्पष्ट हैं, तो हमें कहीं भी, किसी गुरु के पास, किसी गिरजाघर में, किसी संगठन में जाने की ज़रूरत नहीं है। अतः हमारी कठिनाई अपने अंदर अपनी मंशा के बारे में साफ होने की है। क्या इस बारे में हम स्पष्ट हो सकते हैं? क्या वह स्पष्टता खोजने से, या दूसरों ने क्या कहा है इसका पता करने से आएगी—चाहे ये 'दूसरे' ऊंचे दर्जे के शिक्षक हों या गली के किसी चर्च के पादरी? क्या इसके लिए आपको किसी के पास जाना पड़ेगा? फिर भी हम यही तो कर रहे हैं, है न? हम अनगिनत पुस्तकें पढ़ते हैं, अनेक सभाओं में जाते हैं और चर्चा करते हैं, विभिन्न संगठनों में शामिल होते हैं और इस प्रकार उस द्वंद्व का, अपने जीवन के क्लेशों का हल